

जातिगत असमानता विभाजनकारी है, जातिगत जनगणना नहीं

उमेश यादव

केंद्र सरकार ने जातिगत जनगणना कराए जाने की घोषणा करके सबको हैरत में डाल दिया है। हाल तक सत्तारूढ़ पार्टी भाजपा इसका विरोध करती रही थी। हालांकि प्रमुख विपक्षी दल कांग्रेस का इसके पक्ष में आना और पिछले कुछ समय से लगातार इसकी मांग उठाना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि अतीत में उसका भी इस पर खैया भाजपा से अलग नहीं रहा है। बहरहाल अब जबकि घोषणा हो गई है और एक तरह से इस पर आम सहमति दिख रही है तो उम्मीद की जानी चाहिए कि यह कार्य सफलतापूर्वक संपन्न हो जाएगा।

जातिगत जनगणना का इतिहास भारत में करीब डेढ़ सौ सालों का है, जबकि हजारों साल पुराने ऋग्वेद से लेकर बाद के शास्त्रों में वर्ण व्यवस्था का लगातार उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों तथा मनुस्मृति जैसे शास्त्रों में तो वर्ण के अनुसार कर्म का विभाजन तथा सामाजिक पदानुक्रम का विधिवत विवरण मौजूद है। जाति प्रथा भारतीय समाज के लोगों के खान-पान से लेकर शादी-विवाह तथा संसाधनों पर स्वामित्व तक को निर्धारित करती है। वैदिक काल के बाद से बनते-बिगड़ते भूगोल-इतिहास, बदलते बोलियों एवं पहनावों, बदलते शासकों तथा आब्रजन की लहरों के बीच जाति व्यवस्था अडिग खड़ी रही है। जातिगत जनगणना जाति की दैनंदिन हकीकत का आँकड़ों में अनुवाद का एक प्रयासमात्र है।

आज़ादी के बाद अस्तित्व में आए संविधान ने सार्वभौमिक मताधिकार देकर सबके बीच राजनीतिक बराबरी स्थापित की। लेकिन सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में बराबरी लाकर जाति के चंगुल को तोड़ने लायक कदम नहीं उठाए गए। इसी संदर्भ में डॉ. आंबेडकर ने कहा था कि एक समाज जिसमें राजनीतिक समानता हो लेकिन सामाजिक और आर्थिक असमानता न हो, एक विरोधाभास होगा। जातिगत विभाजन के आधार पर खड़ी ज़मींदारी प्रथा को तो कहने के लिए औपचारिक रूप से खत्म कर दिया गया, लेकिन भूमि सुधार को लागू नहीं किया गया। केरल तथा पश्चिम बंगाल ही ऐसे अपवाद हैं जहाँ कम्युनिस्ट सरकार बनने के बाद, कांग्रेस की केंद्र सरकार के तमाम विरोध तथा दांव-पेच के बावजूद भूमि सुधार को लागू किया जा सका। जाति के आधार पर उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की संरचना को तोड़कर एक लोकतांत्रिक समाज की स्थापना बुर्जुआ राजनीतिक पार्टियों के एजेंडे में कभी नहीं आई।

जातिगत जनगणना जरूरी क्यों ?

मंडल कमीशन ने विधिवत अध्ययन के बाद 1931 के सेंसस को आधार बनाकर देश में ओबीसी की कुल आबादी का अनुमान 52 प्रतिशत लगाया था। इसे ध्यान में रखकर तत्कालीन केंद्र सरकार ने ओबीसी को सरकारी नौकरियों (न्यायपालिका में जजों तथा सेना जैसे क्षेत्रों को छोड़कर) तथा शिक्षण संस्थानों में 27 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया था। पर आज तीस बरस से भी ज्यादा होने के बावजूद ज्यादातर क्षेत्रों में ओबीसी का प्रतिनिधित्व तय मानक से नीचे ही है। केंद्रीय विश्वविद्यालयों में सिर्फ 4 प्रतिशत प्रोफेसर तथा 6 प्रतिशत असोसिएट प्रोफेसर ओबीसी वर्ग से आते हैं। असिस्टेंट प्रोफेसर के पद पर यह आँकड़ा 18 प्रतिशत है। लोकसभा में पूछे गए एक सवाल के जवाब में सरकार ने बताया कि 2018 से अब तक नियुक्त किए गए कुल 684 उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों में से 3 प्रतिशत अनुसूचित जाति वर्ग से, 2 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति वर्ग से, 12 प्रतिशत अन्य पिछड़ा वर्ग से, और 5 प्रतिशत अल्पसंख्यक वर्ग से थे।

बिहार सरकार द्वारा 2023 में जारी जातिगत जनगणना के आँकड़े ऐतिहासिक तथा मौजूदा सामाजिक एवं आर्थिक

असमानता के आर्थिक आधार को उजागर करते हैं। इसके अनुसार अत्यंत पिछड़ा वर्ग तथा अन्य पिछड़ा वर्ग की बिहार की कुल आबादी में हिस्सेदारी करीब 63 प्रतिशत है। वहीं अनुसूचित जाति की हिस्सेदारी करीब 20 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति की 2 प्रतिशत है। सवर्णों की हिस्सेदारी करीब 15.5 प्रतिशत है। सवर्ण वर्ग में आने वाले भूमिहार, जो बिहार की कुल जनसंख्या का लगभग 2.8 प्रतिशत हैं, राज्य की लगभग 39 प्रतिशत भूमि के मालिक हैं। इसी तरह ब्राह्मण, जो बिहार की कुल जनसंख्या का करीब 3.6 प्रतिशत हैं, उनके पास लगभग 16 प्रतिशत भूमि का स्वामित्व है। यानी राज्य की कुल आबादी में सिर्फ 6.4 प्रतिशत की हिस्सेदारी रखने वाली इन दो सवर्ण जातियों का 55 प्रतिशत भूमि पर अधिकार है। तेलंगाना सरकार द्वारा कराए गए आँकड़े भी बताते हैं कि राज्य में कुल आबादी का करीब 70 प्रतिशत पिछड़ा वर्ग, 18 प्रतिशत अनुसूचित जाति तथा 7 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति के लोग हैं।

उपरोक्त आँकड़ों से साफ़ है कि आरक्षण फ़ॉर्मूला के वंचित तबकों की आबादी में हिस्सेदारी की तुलना में कम होने के आरोप निराधार नहीं हैं। उनका दूसरा आरोप—आरक्षण के वर्तमान नियमों का पालन नहीं हो रहा है—भी उपरोक्त आँकड़ों के आलोक में सत्य प्रतीत होता है। बिहार की जातिगत जनगणना आरक्षण के वाज़िब मुद्दे के अलावा एक बेहद अहम मुद्दे को भी सामने लाती है—जाति व्यवस्था में सबसे ऊँचे पायदान पर कायम जातियों का भूमि पर एकाधिकार। सरकारी नौकरी तथा शिक्षा के सरकारी संस्थानों के अलावा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व में भी जाति आधारित असमानता फल-फूल रही है। जैसे-जैसे भारतीय समाज कृषि आधारित पारंपरिक अर्थव्यवस्था से उत्पादन की आधुनिक प्रणालियों की तरफ अग्रसर होगा, वैसे-वैसे भूमि तथा पूंजी के स्वामित्व में कायम असमानता इन आधुनिक उत्पादन प्रणालियों में भी दिखेगी। कल के ज़मींदार तथा व्यापारी ही आज के पूंजीपति के रूप में उभरेंगे। जिनकी पीढ़ियाँ भूमिहीन अथवा छोटी जोतों की मालिक रहीं हैं, जो हज़ारों सालों तक शिक्षा से महरूम रहे हैं, जाहिर सी बात है कि पेट भरने के लिए मज़दूर वही बनेंगे। इसके विरोध में यह तर्क दिया जा सकता है कि जातिगत भेदभाव आज़ादी के बाद ग़ैर-कानूनी बन गया है, सबको शिक्षा का अधिकार मिल चुका है, तथा जिसके भीतर 'मेरिट' होगा वो आगे बढ़ेगा। जातिगत असमानता उसकी प्रगति की राह में बाधा नहीं बनेगी। मेरिट की संकल्पना सामाजिक ग़ैर-बराबरी, अवसरों का अभाव अथवा प्रचुरता जैसे ज़रूरी मुद्दों के बिना अधूरी है। किसी भी सामुदायिक समूह अथवा व्यक्ति की प्रगति या पिछड़ेने—अथवा मेरिट—के निर्धारण में आर्थिक हाशियाकरण तथा अवसर भी प्रमुख कारक होते हैं। 'मेरिट' के पहलुओं को समझने के लिए भी जातिगत जनगणना एक बेहद उपयोगी साधन सिद्ध होगा।

जातिगत जनगणना के बाद क्या ?

जातिगत जनगणना का मुद्दा जब सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों के तब्दील होता है तो अक्सर आरक्षण तक सिमट कर रह जाता है। आरक्षण सरकारी नौकरियों तथा शिक्षा के क्षेत्र में समान अवसर दिलाने की दिशा में एक कारगर कदम है। लेकिन, सामाजिक न्याय के नज़रिए से यह नाकाम है। आरक्षण के लागू होने के इतने सालों के बाद भी बहुत सारे क्षेत्रों में सामाजिक रूप से शोषित तबकों का अनुपात आरक्षण के तय मानकों से कम होना यह बताता है कि जातिगत असमानता की जड़ें कितनी गहरी हैं।

आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग के आरक्षण का ही मामला ले लीजिए। 10 प्रतिशत आरक्षण ही क्यों ? 20 प्रतिशत अथवा 2 प्रतिशत क्यों नहीं ? या फिर अगर आरक्षण का सिद्धांत सामाजिक पिछड़ापन तथा जातिगत हाशियाकरण के शिकार समुदायों को सामाजिक न्याय दिलाने के मकसद से लाया गया था, तो फिर सामान्य (सवर्ण) वर्ग के लिए आरक्षण का प्रावधान ही क्यों ? सवाल सामान्य वर्ग को आरक्षण मिलने या न मिलने का नहीं है। सवाल है इस आरक्षण का आधार क्या है ? 10 प्रतिशत का आधार क्या है ? क्या यह सामान्य वर्ग को जनसंख्या के अनुपात में उसका प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने का प्रयास है ? क्या यह वर्ग उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व से वंचित है, अथवा उसको सरकारी नौकरियों में न्यायसंगत हिस्सेदारी हासिल नहीं है जिसके निराकरण के लिए आरक्षण लाया गया ? और अगर यह सिर्फ़ आर्थिक आधार पर लाया गया है तो फिर एसटी, एससी और ओबीसी के लोगों को इसके दायरे से बाहर क्यों रखा गया है ? आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग के आरक्षण को लागू करने का तरीका तो यही बताता है कि इसे लागू करने वाले लोग यह मानते हैं कि गरीबी का शिकार सिर्फ़ सामान्य वर्ग के लोग हो सकते हैं, एसटी, एससी और ओबीसी नहीं।

इस तरह के सवालों का जवाब क्या हो सकता है ? सीधी सी बात है—इन सभी मसलों की ज़मीनी हकीकत की पड़ताल करके वस्तुस्थिति को सामने लाया जाए, ताकि सामाजिक पिछड़ापन, गरीबी तथा असमानता की हकीकत सामने आ

सके। महाराष्ट्र में मराठों ने आरक्षण के लिए आंदोलन किया। उत्तर भारत में आर्थिक रूप से प्रभावशाली माने जाने वाले जाट समुदाय ने भी आरक्षण के लिए आंदोलन किया। एक लोकतांत्रिक समाज के भीतर आरक्षण तथा सामाजिक पिछड़ेपन का दावा किसी भी समुदाय का हक है। सरकारों का फ़र्ज है इसे सुनना तथा अपनी जवाबदेही सुनिश्चित तय करना। हर दशक होने वाला सेंसस एक सधा हुआ तरीका है इन माँगों की सत्वपरकता को परखने का। जातिगत जनगणना के न होने की वजह से अलग-अलग जाति समूहों द्वारा विरोधाभासी माँगों को उठाने की आशंका प्रबल हो जाती है। इन माँगों की प्रासंगिकता को समझने तथा इनको हल करने का समाधान विभिन्न जाति समूहों की वस्तुस्थिति जाने बिना संभव नहीं है।

मंडल कमीशन में कहा गया है जब तक कि पिछड़ेपन की समस्या की जड़ तक पहुंचकर उसका समाधान नहीं किया जाता तब तक आरक्षण एक अस्थायी समाधान रहेगा। रिपोर्ट में इस तथ्य को रेखांकित किया गया कि छोटे किसान, बटाईदार, खेतिहर मज़दूर, गरीब अकुशल मज़दूर अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों से आते हैं। कमीशन ने इस पिछड़ेपन को खत्म करने के लिए व्यापक भूमि सुधार जैसे अन्य स्थायी समाधानों की महत्ता पर जोर दिया।

नवउदारवाद के दौर में सामाजिक न्याय और आरक्षण

आरक्षण के अनुपालन तथा उसके फ़ॉर्मूले का मसला राजनीतिक गलियारों में हमेशा बना रहता है। लेकिन, जाति द्वारा निर्मित असमान सामाजिक संरचना को तोड़कर एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिए आवश्यक मुद्दे वामदलों के अलावा किंचित ही कोई उठाता है। सरकारी रोज़गार तथा शिक्षा में नवउदारवाद के उभार के साथ आरक्षण अपनी शक्ति खोता जा रहा है।

शिक्षित युवाओं में बेरोज़गारी की समस्या विकराल रूप ले चुकी है। नवउदारवादी नीतियों का पालन करते हुए सरकार जोर-शोर से निजीकरण को लागू कर रही है। इसका एक उदाहरण सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का ह्रास है। सरकार नियमित कर्मचारियों की भर्ती की बजाय ठेकाकरण की नीति को अपना रही है। 2021-22 के आँकड़े बताते हैं कि कुल केंद्रीय सरकारी कर्मियों में करीब 47 प्रतिशत कर्मी अनियमित/ठेके पर थे।

पीरियॉडिक लेबरफ़ोर्स सर्वे के आँकड़ों के अनुसार भारत के वर्कफ़ोर्स में आकस्मिक तथा नियमित मज़दूरों का अनुपात साल-दर-साल घटता जा रहा है। अपने खेतों में संलग्न किसानों तथा अवैतनिक पारिवारिक सहायकों का अनुपात बढ़ रहा है। भारत में करीब 87 प्रतिशत जोतों का रकबा 2 हेक्टेयर से कम है (2015-16 की कृषि संगणना के अनुसार)। ऐसे में अन्य सेक्टरों के बजाय खेती में अधिकाधिक लोगों का मजबूरीवश संलग्न होना उचित रोज़गार की गंभीर समस्या का द्योतक है। खेती का इस्तेमाल करके बेरोज़गारी के असली स्तर को सरकारी आँकड़ों में ढंका जा रहा है।

निजी क्षेत्र की नौकरियों में वेतन गंभीर रूप से शोषणकारी होता है। रोज़गार के अभाव में करोड़ों लोग कुछेक नौकरियों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। लेबर कानूनों के अनुपालन के अभाव तथा उनके कमज़ोर होने का फायदा उठाकर निजी क्षेत्र कर्मचारियों को निम्न स्तर का वेतन देता है तथा सामाजिक सुरक्षा से भी वंचित रखता है। ऐसी स्थिति में सरकारी क्षेत्र की नौकरियों गरीबी और बेकारी से बचने का एकमात्र रास्ता बन जाती है।

2023-24 के सर्वे के मुताबिक भारत के कुल वर्कफ़ोर्स में सिर्फ़ 21 प्रतिशत लोग ही नियमित मज़दूर हैं। कुल नियमित मददूरों में से भी केवल 12 प्रतिशत के करीब लोग ही सरकारी उपक्रमों (नियमित एवं अनियमित दोनों) में थे। निजी क्षेत्र में कार्यरत लोगों का मेहनताना सरकारी उपक्रमों में कार्यरत लोगों की तुलना में करीब ढाई गुना कम था। उच्च वेतन प्रदान करने वाला प्रतिस्पर्धी, यानी कि सरकारी सेक्टर जब छोटा होता जाता है तब निजी क्षेत्र के लिए पारिश्रामिक कम करना आसान हो जाता है। खासकर तब, जब सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी बेहद निम्न हो और सामाजिक सुरक्षा वाले लेबर कानूनों को लचर बनाया जा रहा है।

इस सस्ते श्रम का स्रोत क्या है? इसका स्रोत है कृषि अर्थव्यवस्था में निचले पायदान पर मौजूद प्रधानतः भूमिहीन एवं छोटे परिवार जो ज्यादातर अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति तथा ओबीसी समुदाय से आते हैं। गाँवों में मौजूद

जाति आधारित संसाधनों का स्वामित्व गैर-कृषि श्रम सम्बंधों में अपनी संरचना बरकरार रखता है।

शिक्षा इसे तोड़ने का एक कारगर हथियार तो है, लेकिन इसकी भी अपनी सीमाएं हैं। जातिगत गैर-बराबरी की संरचना शिक्षण संस्थानों में भी कायम रहती है। आर्थिक साधनों का अभाव इन समुदायों को गुणवत्तापरक शिक्षा से दूर रखता है। इसके साथ-साथ, सरकारी एजेंडे में शिक्षा की ऐतिहासिक उपेक्षा तथा सरकारी संस्थानों में मिलने वाली दोगले दर्जे की शिक्षा इसके स्वरूप को परिवर्तनकामी नहीं होने देती। ऊपर से, शिक्षा का नवउदारवादी स्वरूप इसको एक व्यावसायिक वस्तु के रूप में देखता है। अच्छी शिक्षा महँगे निजी संस्थानों में बिक रही है, जबकि सरकारी संस्थान उपस्थिति पंजिका में विद्यार्थियों की संख्या दर्ज करने तक सीमित रह गए हैं। आर्थिक रूप से संपन्न तबके निजी शैक्षिक संस्थान चलाकर धन उगाही कर रहे हैं। शिक्षा का यह रूप सामाजिक रूप से वंचित तबकों को अपनी चहारदीवारी से दूर रखता है। शिक्षा के उच्च संस्थानों में आरक्षण के नियमों के पालन नहीं होने का एक कारण यह भी है।

नवउदारवाद के इस दौर में सिर्फ आरक्षण की नीति सामाजिक न्याय दिलाने की दिशा में ऊँट के मुँह में जीरा के समान है। जातिगत गैर-बराबरी के संरचनात्मक आधारों को सामाजिक न्याय के एजेंडे में लाए बिना सामाजिक न्याय की संकल्पना अधूरी रह जाएगी। कृषि अर्थव्यवस्था में भूमि सुधार करके आमूलचूल परिवर्तन लाए बिना जाति के सामंती आधार को हिलाया नहीं जा सकता।

हर समाज का पूंजीवाद उस समाज के पहले से मौजूद सामाजिक संरचना को ही आधार बनाकर फलता फूलता है। भारत में पूंजीवाद तथा जातिजनित असमान सामाजिक संरचना एक दूसरे के पूरक हैं। जातिजनित असमानता का शिक्षा, रोज़गार तथा पूंजीवाद विकास की प्रक्रिया में अपनी संरचना अक्षुण्ण रखना महज संयोग नहीं है। इसका स्रोत उत्पादन के साधनों पर जाति आधारित स्वामित्व है। जब तक इसको प्रमुख सामाजिक तथा राजनीतिक मुद्दा नहीं बनाया जाएगा तब तक सामाजिक न्याय की माँग अधूरी रहेगी। सामाजिक न्याय की माँग में भूमि सुधार, रोज़गार में टेका प्रथा का विरोध, रोज़गार की गारंटी, जीवनयापन के गरिमामय स्तर हेतु आवश्यक न्यूनतम मज़दूरी, सामाजिक सुरक्षा, मज़दूरों के हितैषी लेबर कानून, गुणवत्तापरक सार्वभौमिक शिक्षा तथा स्वास्थ्य जैसे मुद्दों को शामिल किए बिना यह सभी वंचित तबकों को लामबंद करने में कारगर नहीं हो पाएगा। आरक्षण जैसी सामाजिक न्याय की महत्वपूर्ण नीतियाँ भी तभी अपना उद्देश्य पूरा कर पाएंगी जब सरकारी नौकरियों तथा गुणवत्तापरक शिक्षा को बचाने के लिए नवउदारवाद के खिलाफ़ मोर्चे को मजबूत किया जाएगा।

संसद पर बहस के दायरे को विस्तृत करने की जरूरत है। इसमें जाति के सवाल को जोड़ने के अलावा जाति तथा अन्य तरह की असमानताओं को ठीक से समझने के लिए आवश्यक सवालों को भी शामिल करने की जरूरत है। खासकर भूमि के स्वामित्व जैसे सवाल जो सामाजिक गैर-बराबरी के मूल कारणों को सामने ला सकें। संसद की सफलता सिर्फ संसद के पूरा होने में नहीं, बल्कि संसद से मिलने वाली जानकारी के प्रकाश में एक ऐसा सामाजिक न्याय का एजेंडा तैयार करने में है जो समाज के मेहनतकश तबकों के व्यापक हित में हो।